दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

वर्ष : १
अंक : ९

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

फाल्गुन
२४७२

★

सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा

श्रीमद् राजचंद्र

मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करने वाले की इच्छा न होने पर भी मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है, इसलिये मुझे ग्रहण करने से पहले यदि यह विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा को बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण कर लेने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुंचाना ही चाहिये।

कदाचित् मुझे ग्रहण करनेवाला शिथिल हो जाय तो भी यदि हो सका तो उसी भव में अन्यथा अधिक से अधिक पंद्रह भव में मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिये।

कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे अथवा प्रबल से प्रबल मोह को धारण करे तो भी अर्द्धपुद्गलपरावर्तन के अंदर मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिये, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

जड़ और चेतन

जगत में सर्वज्ञ भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं और वे छहों द्रव्य एक दूसरे से स्वतंत्र संपूर्ण स्वाधीन है। उन छह द्रव्यों में आत्मा चैतन्य अर्थात् ज्ञानगुण सहित है। शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य जड़ है। उनमें ज्ञानगुण नहीं है। इन पाँच में से पुद्गलद्रव्य को छोड़कर शेष चार तो अरूपी शुद्ध ही है, इसलिए उन चार द्रव्यों के संबंध में इस प्रकरण में कुछ भी कहना आवश्यक नहीं है। अब शेष रहे जीव और पुद्गल। उनमें जीव चेतन है और पुद्गल जड़; दोनों स्वतंत्र हैं। यह त्रिकाल अबाधित सिद्धांत है कि 'स्वतंत्र द्रव्य को दूसरे द्रव्य का आश्रय (सहायता) नहीं होता।'

उपर्युक्त सिद्धांत के आधार से आत्मा, जड़ का कुछ नहीं कर सकता और जड़, आत्मा का कुछ नहीं कर सकता। जीव अपनी अवस्था को स्वयं स्वतंत्ररूप में करता है। अनादि काल से जीव की संसार अवस्था है, संसार अवस्था को जड़ नहीं कराता। कर्म भी जड़ है; जड़ कर्म, आत्मा को संसार में नहीं रोकते; किन्तु आत्मा स्वयं अपने गुणों की विपरीतता के कारण संसार में रुका हुआ है। जिस प्रकार आत्मा को संसार में परिभ्रमण करानेवाला परपदार्थ नहीं हैं, उसी प्रकार मोक्ष होने में भी परवस्तु आत्मा के लिये सहायक नहीं है।

प्रश्न—ऐसा नियम है कि वज्रवृषभनाराचसंहनन होने पर ही आत्मा को केवलज्ञान होता है अर्थात् वज्रवृषभनाराचसंहनन युक्त शरीर (जो जड़ है), आत्मा को केवलज्ञान होने में सहायक है, क्या यह ठीक नहीं है।

उत्तर—तीन लोक और तीन काल में कोई परद्रव्य, आत्मा की सहायता नहीं कर सकता। केवलज्ञान होने के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है, इसलिये यह नहीं मान लेना चाहिये कि व्रजवृषभनाराचसंहनन से आत्मा को केवलज्ञान हुआ है अथवा केवलज्ञान के उत्पन्न होने में उसने किसी प्रकार की कोई सहायता दी है।

एक द्रव्य की किसी अवस्था के समय यदि अन्य कोई द्रव्य मौजूद हो तो उससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि उस द्रव्य ने पहले द्रव्य की अवस्था को किया है अथवा उस अवस्था में उसने कोई किसी प्रकार की सहायता की है। उस अवस्था के होते समय दूसरे द्रव्य की मात्र उसके निमित्त से उपस्थिति ही थी। उसी प्रकार केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय वज्रवृषभनाराच-संहनन वाले शरीर की जो उपस्थिति है, वह जड़ के कारण है, इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी उपस्थिति है, इसलिये उसने उसमें मदद की है।

यदि केवलज्ञान उत्पन्न होने में आत्मा को वज्रवृषभनाराचसंहनन की सहायता की

आवश्यकता पड़ने लगे तो जड़ और आत्मा दोनों पराधीन कहलायेंगे। क्योंकि, यदि वज्रवृषभनाराचसंहनन शरीर के आधार से केवलज्ञान प्रगट होता हो तो आत्मा के अपने केवलज्ञान के लिये जड़ में पुरुषार्थ करना पड़ेगा, तब यह प्रसंग आयेगा कि जड़ की अवस्था को आत्मा करता है और ऐसी अवस्था में जड़ पराधीन बन जायेगा और यदि आत्मा को अपने केवलज्ञान को प्रगट करने के लिये जड़ की अवस्था की राह देखनी पड़े तो आत्मा पराधीन हो जायेगा अर्थात् वह अपनी अवस्था का स्वतंत्ररूप से कर्ता नहीं रहेगा।

किन्तु सच तो यह है कि एक द्रव्य की अवस्था दूसरे द्रव्य के आधार पर अवलंबित नहीं है; इसलिए आत्मा को केवलज्ञान के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन की 'आवश्यकता' नहीं रहती। फिर भी केवलज्ञान होने के समय जड़ में अपने स्वतंत्र कारण से वज्रवृषभनाराचसंहनन वाली शरीररूप अवस्था 'होती है' किन्तु वह आत्मा के लिये सहायक नहीं है और न आत्मा उसका (जड़ की अवस्था का) कर्ता ही है।

'आवश्यकता' और 'होती है' इन दोनों में काफी अंतर है। केवलज्ञान होने के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है, यह तो कह सकते हैं किन्तु केवलज्ञान होने के समय वज्रवृषभ-नाराचसंहनन की आवश्यकता पड़ती है, यह नहीं कहा जा सकता। जैसे वीतरागदशा होने के पहले राग तो होता है, किन्तु वह राग, वीतरागदशा प्रगट होने के लिये सहायक नहीं है। निम्न दशा में राग तो होता है, फिर भी वह वीतरागता में सहायक नहीं है, उसी प्रकार केवलज्ञान के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन होता तो है किन्तु वह केवलज्ञान में सहायक नहीं है।

प्रश्न—माना कि आत्मा के लिये केवलज्ञान या मोक्ष होने में जड़ किसी प्रकार की सहायता नहीं करता; किन्तु वह जड़कर्म, आत्मा को संसार में तो परिभ्रमण कराता है न?

उत्तर—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, यह सिद्धांत पहले बताया जा चुका है। सिद्धांत में अपवाद के लिये कोई स्थान नहीं होता। आत्मा अपने विपरीत भाव के कारण संसार में चक्कर लगाता है। आत्मा का संसार भी आत्मा में ही है; किसी बाह्य वस्तु में नहीं है।

विपरीत भाव ही संसार हैं। कर्म संसार में चक्कर नहीं खिलाते। आत्मा के सुख-दुःख का कारण आत्मा के उस समय के भाव हैं। कर्म अथवा कर्म का फल सुख-दुःख का कारण नहीं है। नरक या स्वर्ग का क्षेत्र आत्मा के दुःख सुख का कारण नहीं है। नरक में होने पर भी आत्मा

अपने स्वभाव का भान करके शान्ति का अनुभव कर सकता है। इन्द्रिय की हीनता, जड़ की अवस्था है। वह आत्मा के दु:ख का कारण नहीं; किन्तु आत्मा अपने गुण की विपरीतता के कारण अपने ज्ञान के प्रगट होने की शक्ति को खो बैठा है, उसका ही यह दु:ख है। यदि कर्म, आत्मा को दबाते हों तो आत्मा को छोड़नेवाले भी कर्म ही सिद्ध होंगे और ऐसा होने पर मोक्ष का पुरुषार्थ ही नहीं रहेगा; किन्तु ऐसा हो जायगा कि जब कर्म मार्ग देगा, तब मोक्ष हो सकेगा और तब यह कहलायोगा कि आत्मा का नहीं, किन्तु कर्म का मोक्ष होता है।

आत्मा के ऊपर कर्म की बिल्कुल सत्ता न होने पर भी भ्रम से मिथ्या कल्पना से जीव अपने ऊपर कर्म की सत्ता को मान बैठा है। जैसे मद्य पीकर उन्मत्त हुए आदमी पुरुषाकार पत्थर के स्तंभ को सच्चा पुरुष मानकर उसके साथ लड़ने लगा और जब उसने पत्थर के स्तंभ को पकड़ करके हिलाया तो वह स्वयं नीचे गिरा और पत्थर का स्तंभ उसके ऊपर गिरा, ऐसी स्थिति में उसने कहा कि भाई! मैं हारा, और इसने मुझे दबा दिया, इस प्रकार वह उन्मत्त मनुष्य अपने ऊपर उस पत्थर की सत्ता को मानकर व्यथ ही दु:खी हो रहा है। उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी मदिरा पीकर अज्ञानी आत्मा, जड़ की कर्मरूप अवस्था को जानकर अपने ऊपर कर्म की सत्ता को मान बैठा है और यह मान रहा है कि कर्म मुझे परेशान करते हैं। किन्तु वास्तव में उसे कर्मों ने नहीं दबा रखा किन्तु वह भ्रम से ऐसा मान रहा है।

इसी प्रकार जड़ और चेतन; कर्म और आत्मा दोनों स्वतंत्र हैं। किसी पर भी एक-दूसरे की सत्ता नहीं है। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, किसी भी आत्मा को कर्म हैरान नहीं कर सकते। ★

स्मरणीय नियम

१— जो परिणमन करता है, (अवस्था बदलता है) वह कर्ता है। परिणमन करनेवाले का जो परिणाम (अवस्था) है, वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है; यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं। यह तीनों एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थायें हैं। प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुऐं नहीं हैं।

२—प्रत्येक वस्तु सदा एकरूप ही परिणमती है, एक के ही सदा परिणमन होते हैं, और एक की ही परिणति क्रिया होती है। अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है, भेदरूप नहीं है।

३—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति—क्रिया नहीं होती; क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही हैं, वे पलटकर एक नहीं हो जाते।

४—दो वस्तुऐं सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमन नहीं करती, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती–ऐसा नियम है।

५—यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमन करने लगें तो समस्त द्रव्यों का लोप हो जाय।

६—एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाऐं नहीं होती; क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

७—आत्मा सदा निजभावों को करता है और परद्रव्य परभावों को करता है। क्योंकि अपने जो भाव हैं, वे तो स्वयं ही हैं और जो परभाव हैं, वे पर ही हैं—ऐसा नियम है।

८—निज को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करनेवाला आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है। पुद्गल या पर के भावों का कर्ता कभी नहीं हो सकता।

९—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, तब वह ज्ञान के सिवाय और क्या करेगा? आत्मा, परभाव का कर्ता है, यों मानना, सो व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।

१०—मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, यह कर्तृत्वपने का मूल अज्ञान है।

११—आत्मा समस्त वस्तुओं के संबंध से रहित शुद्ध चैतन्यधातुमय है।

१२—फिर भी अज्ञान के कारण सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्यपरिणामवाला होने से उस प्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

१३—क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य, पाप इत्यादि विकारी भावों को सविकार चैतन्य परिणाम कहा जाता है।

१४—मैं परद्रव्य हूँ—मैं परद्रव्य का कुछ कर सकता हूँ, इस प्रकार के विकारी भावों को सोपाधिक चैतन्यपरिणाम कहा गया है।

१५—वे विकारीभाव अनित्य हैं, क्षणिक हैं; इसलिये अपने त्रिकाली ध्रुवस्वरूप शुद्ध चैतन्य के आश्रय से उन विकारी भावों का नाश किया जा सकता है।

१६—आत्मा में होनेवाले अज्ञानमय परिणामों को चिदाभास, चिद्विकार कहा जाता है।

१७—मिथ्यात्वसहित ज्ञान ही अज्ञान कहा जाता है।

१८—मिथ्यात्वसहित रागादिक ही अज्ञान के पक्ष में माने गये हैं।

१९—पर की और अपनी एकत्व (अविशेष) की मान्यता को मिथ्यात्व कहा गया है।

२०—पर के और अपने अविशेष ज्ञान को अज्ञान कहा गया है।

२१—पर की और अपनी अविशेष लीनता को अविरति कहा गया है।

२२—ज्ञान का फल विरति—अर्थात् स्वरूप स्थिरता है। ●●

संसार और मोक्ष

यह निर्जरा अधिकार है। निर्जरा शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, उसका अर्थ है आत्मा में कर्मों के संयोगाधीन उत्पन्न हुई विकारी अवस्था का नाश और शुद्ध स्वभाव की निर्मल अवस्था का उत्पन्न होना।

आत्मा आनंदमूर्ति है, त्रिकाल सहजानंद का रसकंद है। किन्तु वर्तमान काल की एक समय की अवस्थादृष्टि (पर्यायदृष्टि) से दूसरे 'कर्म' नाम के पदार्थ के संयोगाधीन होनेवाले विकारीभाव को लेकर संसार होता है। वह विकारीभाव आत्मा में क्षणिक-एक समयमात्र के लिए ही है। वर्तमान में अनंत आत्मा हैं, वे सब भगवानस्वरूप हैं किन्तु उसकी वर्तमान अवस्था दृष्टि से केवल एक समय के लिये दु:ख दशा दिखाई देती है, उस एक समयमात्र की विकारी अवस्था को छोड़कर शेष समस्त त्रिकालिक स्वरूप निर्विकारी सुखरूप है।

वस्तु के दो विभाग है—(१) तत्त्वदृष्टि अथवा निश्चयदृष्टि और (२) अवस्थादृष्टि अथवा व्यवहारदृष्टि।

(१) निश्चयदृष्टि—तीनों काल में भगवान आत्मा का स्वभाव अखंड परिपूर्ण है, उस स्वभावपर की दृष्टि है, वह शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि या सुखदृष्टि है, इन सबका अर्थ एक ही है।

(२) व्यवहारदृष्टि—एक समय के लिये पराश्रित भेदरूप अवस्था की दृष्टि व्यवहारदृष्टि-दु:खदायकदृष्टि अथवा संसारदृष्टि है।

आत्मा में त्रिकालिक स्वभाव-अखंडानंद भरा हुआ है। उसमें विकार केवल एक समय की अवस्था के लिये है। उस एक समय को बदलकर दूसरे समय में और दूसरे समय को बदलकर तीसरे समय में, इस प्रकार अवस्था बदल-बदलकर जो होता है, वह समय का नया विकार है। संसार भी एक समय की अवस्था मात्र है। जब एक समय जाता है, तब दूसरे समय पर दूसरा विकार होता है, अर्थात् एक समय पर्याय का जब व्यय होता है, तब दूसरे समय की पर्याय का उत्पाद होता है, इसमें दो समय इकट्ठे नहीं होते। व्यवहारदृष्टि मात्र एक समय की अवस्था के लिये है। वह दृष्टि कषाय और विकार पर होने से विकारी अवस्था एक समय की ही होती है, फिर भी उस दृष्टि में असंख्य समय में उसके ध्यान में आता है। विकारी अवस्था समय-समय पर बदलकर अनादिकाल से धारावाहिक रूप से चली आ रही है, फिर भी विकार का समय एक से अधिक समय का नहीं है।

तत्त्वदृष्टि (निश्चयदृष्टि) में आत्मा त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है, उसमें तत्त्वदृष्टि में काल अथवा दूसरा कोई भी नहीं लग सकता। केवल एक समय की विकारी अवस्था के पीछे उसी

एक समय में अखंड परिपूर्ण त्रिकाली ध्रुव स्वभाव भरा हुआ है। इस प्रकार वस्तु एक समय में परिपूर्ण है। प्रत्येक समय में द्रव्य अखंड ध्रुव है। उसमें पराश्रित केवल एक समय की विकारी अवस्था और उसके अतिरिक्त (उसी समय) अखंड परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव दोनों मिलकर पूरा होता है।

एक समय में ज्ञानादि अनंत गुण का रसकंद जो सामान्य ध्रुव है, वह वस्तु है। वस्तु का स्वभाव कभी भी विकारी नहीं होता।

यह जीव ग्यारह अंग और नवपूर्व का पाठी हुआ किन्तु इसने कभी वह नहीं जान पाया कि मेरा स्वरूप क्या है और प्रत्येक समय में मेरा परिपूर्ण स्वभाव क्या है? स्वोन्मुख होकर आंतरिक व्यापार करके अनादि काल में इसने एक समय भी 'यथार्थ हाँ' नहीं कही है। आत्मा त्रिकाल आनंद मूर्ति है और विकार तो केवल एक समय के लिये ही है, वह मेरे स्वरूप में नहीं है, यों यथार्थ समझकर हाँ कहनी चाहिये।

सम्यग्ज्ञान ही भ्रांति-नाश का कारण है और यही धर्म है। सम्यग्ज्ञान के अवलम्बन के बिना अन्य किसी भी उपाय से त्रिकाल में निर्जरा के भ्रम का नाश नहीं हो सकता।

संसार में अनन्त आत्मा हैं। प्रत्येक आत्मा केवल एक समय की विकारी अवस्था को छोड़कर उसी समय में परिपूर्ण अखंड शुद्ध स्वभावी है। मात्र एक समय की विकारी पर्याय संसार है और 'वह विकारी अवस्था मैं नहीं हूँ, मैं तो परिपूर्ण अविकारी स्वभाव हूँ' इस प्रकार की जो दृष्टि है, वह मोक्षमार्ग है तथा पूर्ण शुद्ध अविकारी पर्याय का प्रगट होना, सो मोक्ष है। मोक्षमार्ग बाहर या पुण्यादि में नहीं है किन्तु वह अरूपी आत्मा में ही है।

वस्तु तो त्रिकाल शुद्ध ही है, मोक्ष वस्तु का नहीं होता किन्तु वह अवस्था में होता है। जो विकारी पर्याय थी, उसका नाश होकर शुद्ध अविकारी पर्याय का हो जाना, सो उसका नाम मोक्ष है।

मोक्ष कैसे होता है?

परिपूर्ण शुद्धदशा (मोक्ष) सम्यक्चारित्र के बिना नहीं होती। सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं होता। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, तत्त्वनिर्णय-सर्वज्ञ कथित आगम के निर्णय के बिना नहीं होता और सर्वज्ञ के आगम का निर्णय, सर्वज्ञ की सत्ता का निर्णय हुए बिना नहीं होता।

संसार और मोक्ष

आत्मा में जो एक समयमात्र के लिये विकारी अवस्था है, वह संसार है और जो अविकारी

अवस्था है, वह मोक्ष है। जो विकारी अवस्था है, वह मेरी है-मेरे स्वरूप की है; इस प्रकार की मान्यता चौरासी के जन्म-मरण का मार्ग है। जिसने अपने को पुण्य-पाप की वृत्ति के बराबर माना, उसके संसार पर्याय है। जो क्षणिक विकारी अवस्था है, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो एक समय में समस्त चैतन्य आनंदघन स्वभावरूप हूँ। इस प्रकार का भान होना, सो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मार्ग अथवा मोक्ष का मार्ग है और परिपूर्ण निर्मल दशा का प्रगट होना, सो मोक्ष है। मोक्ष अर्थात् पूर्ण दशा, बिना सम्यक्चारित्र के प्रगट नहीं होती। स्वरूप की रमणता ही चारित्र है, बाह्य क्रिया में अथवा पुण्य-पाप में चारित्र नहीं है।

जैनदर्शन का अर्थ

वस्तु अनादि-अनंत है। धर्म उस वस्तु का स्वभाव है, इसलिए धर्म अनादि है। किसी व्यक्ति ने धर्म को उत्पन्न नहीं किया। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से परिपूर्ण है, उनका प्रदर्शक जैनधर्म है। जैनधर्म यानि विश्वधर्म। आत्मा का त्रिकालिक स्वभाव है। उसमें जो एक समय के लिये विकारी पर्याय आ जाती है, उसके लक्ष्य को गौण करके अखंड परिपूर्ण स्वभाव का दर्शन करना, सो जैनदर्शन है। एक समयमात्र के लिये भी स्वरूप में विकार नहीं है। तत्त्व का निर्णय आगमज्ञान के बिना नहीं होता और आगम का ज्ञान, सर्वज्ञ को जाने बिना नहीं होता। प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वरूप है और सर्वज्ञ हो सकता है।

आत्मा में जो एक समयमात्र के लिये विकारी अवस्था है, वह संसार है और जो अविकारी अवस्था है, वह मोक्ष है।

सर्वज्ञ का अर्थ

प्रत्येक आत्मा के अनंत गुण और फिर उसमें ज्ञानगुण की एक समय की एक पर्याय में, तीन काल और तीन लोक के जो अनंत पदार्थ हैं, उनको गुण-पर्याय सहित एक ही साथ जो जानता है, सो सर्वज्ञ है। उस सर्वज्ञ के मुख से निकली हुई वाणी, सो आगम है। उस आगम के द्वारा तत्त्व का निर्णय होता है, उस तत्त्व के निर्णय द्वारा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान के द्वारा चारित्र होता है और चारित्र द्वारा मोक्ष होता है।

इस बात को समझे बिना कभी भी मोक्ष नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान के सिवाय मोक्ष का कोई उपाय नहीं। लोग कहते हैं कि कितना याद रखा जाय यदि पैसे से धर्म होता हो तो पाँच लाख की पूँजी में से पचास हजार दे दें। उससे धर्म हो जाय और शेष साढ़े चार लाख से संसार व्यवहार भी चलता रहे। इस प्रकार संसार और मोक्ष दोनों साथ ही साथ मिल जायँ; किन्तु पैसे से

कभी भी धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव है। परावलम्बन से धर्म नहीं होता। वस्तु स्वरूप, सर्वज्ञ के मुख से निकली हुई वाणी (आगम) के द्वारा मालूम होता है। सभी सर्वज्ञों का कथन एक-सा ही होता है। एक सर्वज्ञ से दूसरा सर्वज्ञ कभी भिन्न बात नहीं कह सकता।

''एक होय त्रण कालमां परमारथनो पंथ''

- तीनों काल के सर्वज्ञों का कथन एक ही प्रकार का होता है।
- सर्वज्ञ के निर्णय के बिना आगम का निर्णय नहीं हो सकता।
- आगम के निर्णय के बिना तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता।
- तत्त्व के निर्णय के बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।
- सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता; और सम्यक्चारित्र के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिये पहले तो भगवान के आगम द्वारा स्वरूप का निर्णय करना होगा, इसमें आगम तो निमित्त है—निर्णय तो स्वयं करना होगा। भगवान के आगम के द्वारा अपनी आत्मा से जानकर आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलंबन करना चाहिये।

मैं 'अखंड चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वरूप हूँ। ज्ञान के सिवाय मेरा अन्य स्वभाव नहीं है। मैं परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप चैतन्य ज्योति हूँ।' इस प्रकार एक ही ज्ञान का अवलंबन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य दूसरे का अवलंबन करने को नहीं कहा गया है, यही अनेकांत है।

ऊपर भार पूर्वक कहा है कि 'एक का ही' अवलंबन करना चाहिये, अर्थात् ज्ञान के जो मति-श्रुत आदिक पाँच अवस्थाभेद हैं, उनका जो लक्ष्य है, वह भेददृष्टि है, उसका अवलंबन नहीं, किन्तु मैं अकेला ज्ञानमूर्ति हूँ। एक उसी का अवलंबन करना। उस ज्ञान के सिवाय कभी भी धर्म अथवा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। अवलंबन मात्र एक ज्ञान का ही है। यहाँ कोई कह सकता है कि बारी के बिना बेल चढ़ सकती है अर्थात् पराश्रय के बिना आगे बढ़ा जा सकता है, ऐसा कहनेवाले की (पराश्रय में धर्म मानने वाले की) दृष्टि विपरीत है। हम पूछते हैं कि जो बेल चढ़ती है, वह हरी होती है या सूखी? बारी के होते हुये भी सूखी बेल नहीं चढ़ सकती। इससे स्पष्ट हो गया कि जो बेल चढ़ती है, वह अपनी शक्ति से ही चढ़ती है और जहाँ बेल को बढ़ना होता है, वहाँ बारी भी होती है। इस प्रकार पराश्रय की दृष्टि को बदल डाल।

संसार में सुकमार (पराश्रयी) जीवन मान रखा है, इसलिये वह धर्म भी पराश्रय मानता है। किन्तु आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव ही धर्म है, यह बात गरीब और अमीर सभी के लिये एक समान घटित होती है। आत्मा गरीब या अमीर नहीं है। पूर्व कर्म के निमित्त से प्राप्त संयोग

(पैसा) के कारण उसे धनवान् कहा जाता है; किन्तु यदि कोई इस कथन के अनुसार ही मानने लगे (आत्मा को धनवान माने) तो वह मिथ्यादृष्टि है। (लोक व्यवहार में भी लोग कहने के अनुसार अर्थ नहीं किया करते, 'घी का घड़ा' तो कहलाता है किन्तु उसका अर्थ शब्दानुसार नहीं होता।) जबकि विकारी अवस्था भी आत्मा की नहीं है तो रुपया-पैसा इत्यादि जड़ आत्मा के कैसे हो सकते हैं? आत्मा न तो पैसे वाला है और न गरीब। वस्तु में कमी कहाँ है? संयोग की कमी के कारण लोग गरीबपन को आरोप करते हैं किन्तु वस्तु में गरीबी नहीं है।

प्रभु! यह तेरी प्रभुता है। एक समय में ज्ञानादि अनन्त गुणों से तू परिपूर्ण है। एक क्षण मात्र के लिये वर्तमान अवस्था का विकार भी तेरा स्वरूप नहीं है। वर्तमान में ही परिपूर्ण स्वरूप है। एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है। अवस्था पर लक्ष्य न देकर ज्ञानी का लक्ष्य एक समय में परिपूर्ण स्वभाव का है। यदि वस्तु और वस्तु का गुण वर्तमान एक समय में पूरा न हो तो दूसरे समय में आयगा कहाँ से? एक समय में परिपूर्ण ज्ञानगुण होता है, उसमें 'विकार' या 'भेद' (मतिश्रुत इत्यादिक पर्याय) को न लेकर पूर्ण ज्ञान का ही अवलंबन करना चाहिये, यही मोक्ष का उपाय है।

ऊपर विकार और भेद इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है।

विकार—जो अपूर्ण और अधूरी पर्याय है, उसका अवलंबन नहीं करना।

भेद—मति-श्रुत या केवल इत्यादिक जो पांच भेद हैं, उनका लक्ष्य नहीं करना।

विकार अथवा भेद रहित मात्र ज्ञान के अवलंबन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अहा! श्री समयसार, और उसमें फिर श्री अमृतचंद्राचार्य की टीका! एक एक शब्द में आनंद रस के (ज्ञान के) घन भरे हुये हैं। मैं मात्र ज्ञान ही करूँ और जानूं। जानने के सिवाय अन्य कुछ भी करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ, ऐसे भाव से भ्रांति का नाश होता है। ज्ञान के सिवाय कोई अन्य मेरी मदद कर देगा अथवा सहायक-साथी होगा, इस प्रकार की पराश्रित बुद्धि का होना, सो एक समय में तीनों काल की झुठाई का सत्व है अर्थात् तीव्र मिथ्यात्व है। वह भ्रांतिभाव-मिथ्यात्वभाव मात्र सम्यग्ज्ञान से ही नाश होता है। उस भ्रांति का नाश होने पर आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति का लाभ होता है अर्थात् ज्ञान होने से पूर्व जो शुद्धता का लाभ पर्याय में नहीं था, वह ज्ञान होने के बाद पर्याय में आत्मा के स्वभाव की शुद्ध दशा का लाभ हुआ कहलायगा। यहाँ पर जो पर्याय का लाभ है, सो आत्मा का लाभ है, इस प्रकार आरोप करके कहा गया है।

पहले आत्मा को विकारी और पराश्रित मानता था। उस मान्यता का, भ्रांति का नाश होने

पर सारी वस्तु का (वस्तु स्वरूप का) ज्ञान हुआ कि विकारीपना और पराश्रयपना मेरे स्वरूप में नहीं है। यदि मैं रागादिवान होता तो वह कैसे दूर होता और मुझे पूर्ण ज्ञानस्वभाव का लाभ कैसे होता? इससे सिद्ध हुआ कि वह राग मेरा स्वरूप नहीं था, वह क्षणिक था और अनात्मा था।

अनात्मा—राग और पुण्य इत्यादि के जो विकल्प हैं, वे सब अनात्मा हैं, क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। जो आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह सब अनात्मा है। सम्यग्ज्ञान हो जाने पर उस अनात्मा का परिहार निश्चय से हो जाता है। व्रत, अव्रत का विकल्प जो कि अनात्मा ही है, उसका भी परिहार निश्चय से होता है कि—"यह मैं नहीं हूँ किन्तु ज्ञान ही मैं हूँ।"

कोई अज्ञानी यह मान बैठे कि पहले हम राग-द्वेष को कम करना प्रारम्भ कर दें, अन्त में अकेला शुद्ध आत्मा रह जायगा। किन्तु स्वरूप का भान हुये बिना राग-द्वेष का सर्वथा नाश नहीं हो सकता। क्षणिक विकार को ध्यान में रखकर त्रिकालिक स्वभाव का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता किन्तु शुद्ध स्वभाव को लक्ष्य में रखकर "यह मेरा नहीं है" इस प्रकार निश्चय होता है। ऐसा होने से कर्म बलवान नहीं होता अर्थात् रागादि रहित शुद्ध स्वभाव का भान होने पर कर्म रुक जाते हैं।

पहले (भ्रांतिदशा में) स्वयं निमित्ताधीन होकर (स्वयं निमित्त में लगकर जब विकारी भाव करता है, तब निमित्ताधीन हुआ कहलाता है किन्तु कर्म जबरदस्ती से विकार उत्पन्न नहीं कराता है), विकार करता था—किन्तु भ्रांति के दूर होने पर विकार उत्पन्न करना बंद कर देता है, उससे कर्म भी रुक जाते हैं। जब तक आत्मा स्वयं विकार को अपना मानता है, तब तक वह कर्माधीन होकर स्वयं विकार करता है; किन्तु कर्म विकार नहीं कराते। जहाँ दृष्टि का जोर बदल गया (पर से स्व के ऊपर आ गया), वहाँ आत्मा कर्माधीन नहीं होता, तब कहलाता है कि कर्मों का जोर नहीं है।

अहो! समयसार ग्रंथ, ४१५ गाथाओं में तो सर्वज्ञ की वाणी का साक्षात् महा प्रवाह अवतरित कर दिया है। श्री कुंदकुंद प्रभु ने भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा पास से साक्षात् सुनकर उसकी महा धारा को इस शास्त्र में बहाया है। वह तीन लोक और त्रिकाल में सत्य ही है, वही यहाँ समझाई जा रही है। ज्यों समझ सको त्यों समझो।

आत्मा एक समय में ज्ञान से परिपूर्ण शुद्ध है। उसकी श्रद्धा होने पर, स्वभावाधीन हो जाता है, इसलिये कर्म 'बलवान' नहीं हो सकता। यहाँ पर 'बलवान' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका अर्थ यह हुआ कि अभी रागादि से अल्प संबंध में है। यदि वह सर्वथा छूट जाय तो वीतराग हो जाय।

छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुये मुनि के भी अल्प अस्थिरता होती है किन्तु वहाँ पर कर्म बलवान नहीं हो सकता। छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुये मुनिराज के एक दिन में अनेक बार छट्ठे-सातवें का परिवर्तन हुआ करता है, वहाँ छट्ठे का काल सातवें की अपेक्षा दुबारा होता है।

यह सब तो शाश्वत टंकोत्कीर्ण शब्द हैं, इसलिये उन शब्दों के पीछे जो 'वाच्य' भाव हैं, वह त्रिकाल में भी नहीं मिट सकता। यह निर्जरा अधिकार है। स्वरूप का भान होने के बाद रागादि के साथ कुछ संयोग कर लिया जाता है; किन्तु साथ ही यह भान है कि यह पुरुषार्थ की कमजोरी है। पहले जो विपरीत मान्यता थी, वह दूर हो गई; इसलिये जो कर्माधीन संबंध था, वह छूट गया। किन्तु वह अभी सर्वथा नहीं छूटा है, इसलिये सर्वज्ञदशा नहीं हुई है। जब भगवान तीर्थंकर छद्मस्थदशा में होते हैं, (उन्हें उसी भव में मोक्ष होना है), तब उनके भी कभी-कभी अल्प अस्थिरता आ जाती है और बहुतांश स्थिरता प्रवर्तमान होती है; किन्तु कर्म बलवान नहीं हो सकता।

यह सब ज्ञान के अवलंबन का ही फल है। चैतन्य-ज्योति ज्ञान से परिपूर्ण-उनके ज्ञान की ही बात है। एक समय में चैतन्य परिपूर्ण आनंदघन भरा हुआ है, उसी का अवलंबन करने से, स्वभाव की स्थिरता के बल से निमित्ताधीन भाव विशेष नहीं होता। स्वभाव के ज्ञान के अवलंबन के भाव से राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते। जितनी स्वभाव की शक्ति बढ़ती है, उतनी ही मोह (भ्रांति राग-द्वेष) की शक्ति घटती है। राग-द्वेष तो प्रमाद है, उस प्रमाद के दूर होने पर फिर रागादि उत्पन्न नहीं होते और बिना रागादि के फिर आस्रव नहीं होता और बिना आस्रव के फिर कर्मबंध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्म को भोग लेने पर उसकी निर्जरा हो जाती है। स्वरूप ज्ञान के मार्ग में पहुँच जाने पर (एकाग्र होने पर) पुराने कर्मों की उन्हें भोग लेने पर निर्जरा हो जाती है।

आत्मा, कर्म को नहीं भोगता। अनेक बार कहा जा चुका है कि कर्म की अवस्था आत्मा में नहीं है। आत्मा चैतन्यस्वरूप अनंत गुणों का पिंड है और कर्म अनंत जड़ रजों का पिंड है। उस कर्म का फल कर्म में (जड़ में) होता है। अज्ञानी के भी कर्म का फल आत्मा में नहीं होता। मात्र उसकी दृष्टि कर्म पर है, इसलिये वह कहता है कि —

उदय महा बलवान है, नहीं पुरुष बलवान।
शक्ति मरोड़े जीव की उदय महा बलवान॥

यह तो यथार्थ भान होने के बाद पर्याय की अशक्ति का भान कराने के लिये निमित्त से कथन है। कर्म को तो खबर ही नहीं होती कि वह स्वयं क्या है और कहाँ है ? सबको जाननेवाला

तो स्वयं है और महिमा दूसरे की मानता है! जिसकी दृष्टि कर्म पर है, वह कर्म के जोर को मानता है और कहता है कि 'निकाचित और निगत् कर्मों को बाँध रखा है, वे कभी छूट सकते हैं? उन कर्मों ने शक्ति को रोक रखा है। भगवान महावीर को भी कर्म भोगना पड़े थे।' वहाँ पर 'कर्मों ने आत्मा की शक्ति को रोक रखा है' यह जो कथन है, सो तो पुरुषार्थ की वर्तमान अशक्ति को बताने के निमित्त से है। कर्म, आत्मा के किसी गुण को रोक सकता है, यह तीन काल और तीन लोक में कभी नहीं हो सकता। किन्तु जब स्वयं पुरुषार्थ में रुक गया, तब कर्म को निमित्त कहा गया। जो विकारी पर्याय होती है, वह कर्म के निमित्त से होती है, इसलिये वह तेरे स्वरूप में नहीं है—यों बताकर निर्विकार स्वभाव के पुरुषार्थ का बल बताना है, कर्म का जोर नहीं बताना है। भगवान ने जो उपदेश दिया है, वह यह कहकर नहीं दिया कि – ''तू इस योग्य नहीं है, फिर भी मैं तुझे समझा रहा हूँ; तू समझेगा नहीं फिर भी मैं कहता हूँ!'' किन्तु यों कह कर उपदेश दिया है कि –''मैं और तू दोनों समान हैं, मैं जो कहता हूँ, उसे तू बराबर समझ जायगा।'' आचार्यदेव ने पहली गाथा में ही सबको सिद्धसम स्थापित करके प्रारंभ किया है। उनने यह नहीं कहा कि 'तू नहीं समझता, इसलिये कहता हूँ।'

जैनधर्म वस्तु प्रदर्शक धर्म है। वस्तु त्रिकाल है, वस्तु का स्वभाव त्रिकाल है। वस्तुप्रदर्शक धर्म को काल की मर्यादा (कैद) से नहीं रोका जा सकता। क्योंकि वस्तु और वस्तु स्वभाव को दिखानेवाला जैनधर्म है; और वस्तु त्रिकाल है, इसलिये धर्म भी त्रिकाल ही है। धर्म को काल की मर्यादा में नहीं बाँधा जा सकता। वस्तु त्रिकाल है, इसलिये उसका प्रदर्शक धर्म भी त्रिकाल है।

सत्य तो नग्न ही है, वह किसी का लिहाज नहीं करता। सत्य त्रिकाल एक रूप ही है। ''एक होय त्रण कालमां परमारथनो पंथ।'' परमार्थ का पंथ अर्थात् सत्धर्म त्रिकाल में एक ही होता है। उसमें काल का कोई असर नहीं होता। यह नहीं हो सकता कि महावीर भगवान के समय तो दूसरा मार्ग है और उसके बाद उससे भिन्न मार्ग हो।

जैनधर्म का कथन त्रिकालिक वस्तु स्वभाव के आधार से है। अनुभव जैनधर्म की नीव है। युक्तिवाद जैनधर्म की आत्मा है। सत्यमार्ग किसी से भी नहीं रोका जा सकता। जो उसके रोकने का प्रयत्न करेगा, वह स्वयं ही चार गतियों के भ्रमण में रुक जायेगा। तत्त्व किसी व्यक्ति पर आश्रित नहीं है, और न किसी से उसकी उत्पत्ति है। यह नहीं है कि सर्वज्ञ के होने से धर्म हुआ है। वस्तु त्रिकाल है; वस्तु के धर्म को रोकने में कोई समर्थ नहीं है। चौथा काल हो या पंचम काल; कोई भी धर्म पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता। प्रत्युत जैसा धर्म है, वैसा ही त्रिकाल है।

हलुवा त्रिकाल में आटा, घी और शक्कर का ही बनता है; इनके सिवाय रेत, पानी और मिट्टी से न तो कभी हलुवा बना है और न बनेगा। इसी प्रकार मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को मिलाकर होता है। इन्हें छोड़कर पुण्यादि से तीन लोक और त्रिकाल में भी मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

मात्र ज्ञान का अवलंबन ही मोक्ष का उपाय है, मात्र चैतन्य ज्ञानस्वभाव के अवलंबन को छोड़कर अन्य किसी भी उपाय से मोक्ष नहीं हो सकता। मात्र ज्ञान के अवलंबन से पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा हो जाती है, और समस्त कर्मों का नाश होने पर साक्षात् परिपूर्ण मोक्षदशा प्रगट होती है। सम्यग्ज्ञान की ऐसी महिमा है। ❖

आत्मधर्म के ग्राहकों को उपहार ग्रंथ
॥ मुक्ति का मार्ग दिया जायगा ॥

भयों का साम्राज्य

लेखक — रामजीभाई माणेकचंद दोशी

सुखचंद—भाई! इस संसार में जहाँ देखते हैं, वहाँ दुःख का ही साम्राज्य दिखाई देता है, क्या यह सच है?

ज्ञानचंद—आप जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे कोई दृष्टांत देकर अधिक स्पष्ट कीजिये।

सुखचंद—देखो, संसार में राजा को प्रजा से दुःख मालूम होता है, और मजदूरों को संपत्तिशालियों से। राज्य क्रांतिकारियों से भयभीत है और मनुष्य शरीर के रोगों और अकाल के दुःखों से भयभीत है और निर्बलों को बलवानों का भय मालूम होता है। यह सच है न?

ज्ञानचंद—हाँ, लोक में जीवों को विविध प्रकार के भय होते हैं, आपने तो बहुत कम बताये हैं। यदि उन्हें और अधिक देखा जाय तो वे अनगिनती हैं और यदि हम उन्हें एक मर्यादा में बाँधकर विचारें तो जगत के तमाम भयों का समावेश सात भयों में हो सकता है और वे सात भय निम्न प्रकार हैं:—

(१) इस भव में जीवनपर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं इसका भय।

(२) मरण होने के बाद पर भव होगा कि नहीं और यदि होगा तो मेरा क्या होगा, इसका भय।

(३) शरीर में रोगजनित वेदना का भय।

(४) मुझे शरण देनेवाले–सगे, संबंधी, रिश्तेदार, कुटुंबी, मालिक और राज्य इत्यादि मेरी रक्षा करेंगे कि नहीं? कभी मुझसे प्रतिकूल तो नहीं हो जायंगे? इसका भय।

(५) मेरी गोपनीय वस्तुओं को जो मैंने बहुत हिफाजत के साथ रख छोड़ी हैं, पता लग जाने पर उन्हें कोई चोर तो नहीं चुरा ले जायगा। अथवा कोई किसी प्रकार की हानि तो नहीं कर देगा? इसका भय।

(६) मेरी इंद्रियां शिथिल होती जा रही हैं, अब कहीं मैं मर तो न जाऊँगा, इसका भय।

(७) किसी प्रकार की कोई आकस्मिक घटना तो नहीं हो जायगी, जिससे मुझे हानि हो जाय, इसका भय।

इस प्रकार यह ७ भय हैं, जो संसारी जीवों के मन में निरंतर उठा करते हैं।

सुखचंद—इन भयों को मिटाने का कोई उपाय भी है या नहीं?

ज्ञानचंद—देखो, क्या कभी किसी को ऐसा भय भी होता है कि बर्फ ठंडा है, यदि मैं इसे छुऊँगा तो जल जाऊँगा।

सुखचंद—ऐसा बिल्कुल नहीं होता।

ज्ञानचंद—इसका कारण यह है कि लोग बर्फ का स्वभाव जानते हैं, इसलिये उन्हें यह भय नहीं हो सकता कि वह हमें जला देगा।

ज्ञानचंद—क्या कभी आप रस्सी को देखकर ऐसा भी भय कर बैठते हैं कि यह रस्सी मुझे काटेगी?

सुखचंद—कभी नहीं, क्योंकि हम जानते हैं कि रस्सी का काटने का स्वभाव नहीं है।

ज्ञानचंद—और यदि उसी रस्सी को आप और अंधेरे में देखें तो क्या उसे सर्प समझकर भयभीत नहीं हो जाते कि कहीं मुझे यह काट न खाय।

सुखचंद—हाँ, अवश्य! उस भय के कारण मैं दूर भाग जाऊँगा।

ज्ञानचंद—क्यों? इसका क्या कारण है?

सुखचंद—इसका कारण यह है कि उस समय हमें उस वस्तु के संबंध में ज्ञान नहीं होता कि वह क्या है? इसीलिये हानि के भय से हम दूर भागते हैं।

ज्ञानचंद—देखिये, तब इससे यह निश्चय हुआ कि जब वस्तुस्वभाव के संबंध में अज्ञान होता है, वहाँ आदमी भय से घबरा जाता है।

सुखचंद—यह बात ठीक है, किन्तु कभी-कभी ज्ञान के होने से भी भय होता है और अज्ञान से सुख भी होता है।

ज्ञानचंद—इसका कोई उदाहरण दीजिये।

सुखचंद—देखिये, एक आदमी का लड़का मर गया है क्योंकि जब तक उसे इस बात का ज्ञान नहीं है, तब तक वह दु:खी नहीं होता और जब उसे इसकी खबर मिल जाती है, तब वह दु:खी होता है। इसलिये एक अंग्रेजी कहावत के अनुसार 'अज्ञानता सुख है' —

Ignorance is bliss

ज्ञानचंद—आपने जो उदाहरण दिया है, उसमें ज्ञान दु:ख का कारण नहीं है, किन्तु दु:ख का कारण है उसकी ममता; जिससे वह सोचता है कि यह पुत्र मेरा है, उसके न होने से हमारी सब मिलनेवाली सुविधायें बंद हो जायगी। अथवा अब मेरा वंश नहीं चलेगा या वह भविष्य में जो मेरी सेवा करनेवाला था, सो वह अब नहीं हो सकेगी। और यदि ज्ञान से भय होता तो जिस-जिसने उस लड़के की मरण की बात को जाना है, उन सब को दु:ख होना चाहिये। माँ और बाप दोनों को पुत्र मरण का ज्ञान होने पर प्राय: माँ अधिक रोया करती है और बाप कम। अथवा कहीं-कहीं पर बाप भी अधिक रोता है, इसका कारण क्या है?

सुखचंद—तो फिर मैंने जो अंग्रेजी कहावत (अज्ञानता सुख है) कही थी उसके संबंध में आप क्या कहते हैं?

ज्ञानचंद—अरे भाई! यह कहावत तो अज्ञानियों ने बना ली है, यदि वे भी सच मानते हों तो वे अपने व्यापार आदिक में होनेवाले हानि-लाभ से क्यों ज्ञात रहना चाहते हैं। वे अपने लड़के को क्यों पढ़ाते हैं? क्या उन्हें ज्ञान या सुख इष्ट नहीं है? यदि वे उस कहावत को ठीक मानते हों तो ऐसा क्यों करते हैं?

सुखचंद—तो क्या इस संबंध में कोई सच्ची कहावत भी आप जानते हैं?

ज्ञानचंद—हाँ! 'ज्ञान ही बल है' इस आशय की एक अंग्रेजी कहावत है —

Knowledge is power

सुखचंद—यह कहावत तो कुछ ठीक नहीं मालूम होती क्योंकि बुत से शिक्षित, बुद्धिमान और समझदार माने जानेवाले आदमी कमजोर दिखाई देते हैं और ज्ञानहीन-बुद्धिहीन आदमी शरीर से बलवान होते हैं। यदि वे उन बुद्धिमान समझदार लोगों को एक धक्का लगायें तो वे विचारे साष्टांग प्रणाम करते हुये दिखाई दें।

ज्ञानचंद—अरे भाई! आप तो इस कहावत का अर्थ ही नहीं समझे।

सुखचंद—तो अब आप सच्चा अर्थ समझाइये।

ज्ञानचंद—आपने तो अपने दृष्टान्त में जीव और शरीर को एक मान लिया। इसलिये सच्चा अर्थ समझ में नहीं आया।

सुखचंद—यदि आप अपनी बात को सिद्ध कर बतायें तो मैं मानूंगा। आपने ही कहा था कि कारणों को जाने बिना-परीक्षा किये बिना किसी बात को नहीं मानना चाहिये। इसलिये आप पहले कारण बताइये।

ज्ञानचंद—आप कारण जानना चाहते हैं, सो ठीक है। क्यों कि अंध श्रद्धा शून्यवत् कही गई है। अब हम कारणों के संबंध में कल चर्चा करेंगे।

(२)

सुखचंद—"ज्ञान ही बल (सत्ता-अधिकार) है" इस कहावत का आप क्या अर्थ करते हैं?

ज्ञानचंद—ज्ञान, भय को जीतनेवाला है और ज्ञान वह कहलाता है जो सत्य हो और दोष रहित हो। सच्चा ज्ञान ही वास्तविक बल है। क्योंकि दृढ़ता हो जाने पर जीव के भय नहीं होता और उससे जीव को शांति बनी रहती है।

सुखचंद—अपने पहले सात प्रकार के भय बताये थे, वे भय ज्ञान से किस प्रकार दूर हो सकते हैं, वह समझाइये।

ज्ञानचंद—इस भव में जीवनपर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं, सो यह इस लोक का भय है। इस भय को दूर करने का साधन यह है कि ज्ञान में यह निर्णय करना चाहिये कि परवस्तु मुझे अनुकूल या प्रतिकूल हो ही नहीं सकती। मेरी समझ में जो दोष है, वही सच्ची प्रतिकूलता है। मेरा चैतन्य ज्ञानगुण ही मेरा लोक है और वह नित्य हैं, सर्वकाल में प्रगट है। मेरे उस चैतन्य स्वरूप लोक को अन्य कोई न तो बिगाड़ ही सकता है और न सुधार ही सकता है। मेरा लोक मैं स्वयं चैतन्यरूप (शरीर-रागद्वेष-पुण्यपाप से पर) हूँ। मेरा लोक नित्य मेरे साथ ही है, उसे इस लोक में या पर लोक में कोई भी वस्तु दु:खदाई या भयजनक नहीं है। यों समझकर जो दृढ़ हो जाता है, उसके भय नहीं होता।

सुखचंद—आपने दोष रहित ज्ञान को सच्चा ज्ञान कहा है तो अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान में कितने प्रकार के दोष होते हैं?

ज्ञानचंद—(१) संशय, (२) विपर्यय (३) अनध्यवसाय (अनिर्णय) यह तीन ज्ञान के दोष हैं। जो जीव इन दोषों को दूर कर देता है, उसी के सच्चा ज्ञान होता है।

सुखचंद—कुछ लोग कहते हैं कि आप तो जहाँ देखो वहाँ सच्चा ज्ञान-सच्चा ज्ञान करना ही कहा करते हैं।

ज्ञानचंद—जिसे सच्चा ज्ञान के प्रति अरुचि होती है, उसके ऐसे ही भाव होते हैं। समझने की रीति तो यह है कि समझने की बुद्धि से पहले समस्त बद्ध मान्यताओं को थोड़े समय के लिये एक ओर रखकर यदि जीव सुनकर यह निश्चय करे कि सत्य क्या है, तब ही सच्चा उपाय उसकी समझ में आ सकता है। उसने स्वयं जो मान्यताऐं बना रखी हैं, वे यदि सच हों तो उनका दु:ख दूर क्यों नहीं हो जाता, शांति क्यों नहीं होती? जिसे पर कल्पित सुविधाओं से सुख मानना हो, उसे यह ध्यान में रखना होगा कि परकल्पित सुविधायें अल्प समय में अदृश्य हो जायंगी और कल्पित असुविधाओं का ढ़ेर आ खड़ा होगा। कल्पनाओं के घोड़ों से दु:ख दूर नहीं किया जा सकता क्योंकि वे कल्पनाओं के घोड़े स्वयं दु:ख उत्पन्न करनेवाले हैं।

सुखचंद—ज्ञान से लाभ होता है-ऐसी मान्यता संसार में भी प्रचलित है और वे उसी के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जैसे:—

(१) यदि ज्ञान की प्रधानता न हो तो लोग अपनी संतान को क्यों पढ़ाते हैं?

(१) पेट में दर्द होने पर उसके उपाय के लिये आयुर्वेदिक वैद्य के पास क्यों जाते हैं? किसी कानूनज्ञ वकील के पास क्यों नहीं जाते?

(३) किसी व्यावहारिक कार्य में जब कोई समस्या (कठिनाई) खड़ी हो जाती है तो उसका हल करने के लिये उस कार्य के ज्ञाता के पास क्यों जाते हैं?

(४) यदि अच्छी हंड़िया बनवानी हो तो उसके जाननेवाले कुम्हार के पास जाते हैं किन्तु उसके लिये अच्छे डाक्टर, वैद्य या किसी जौहरी के पास कोई नहीं जाता।

इन दृष्टांतों से यह सिद्ध हुआ कि लोग भी अपनी असुविधाओं को मिटाने का उपाय सच्च ज्ञान ही मानते हैं। ऐसा होने पर भी किसी न किसी प्रकार का दु:ख तो बना ही रहता है, इसका क्या कारण है।

ज्ञानचंद—इसका कारण यह है कि लोग परीक्षा करके यह निश्चय नहीं करते कि आत्मा के स्वरूप का सच्चा ज्ञान क्या है?

सुखचंद—आपने कहा है कि कल्पित सुविधायें अल्प समय में अदृश्य हो जायगी—इसका कारण क्या है?

ज्ञानचंद—पर से सुविधा मिलती है, यह कल्पना अपने ज्ञान की विकृत (विपरीत) अवस्था है और विकृत अवस्थाओं के पहलू बदलते रहते हैं।

सुखचंद—कुछ आदमियों के और राजाओं के समस्त जीवनपर्यंत अमुक प्रकार की सुविधायें तो बनी ही रहती हैं, इसका क्या?

ज्ञानचंद—मेरी बात को आप ठीक नहीं समझ सके; इसलिये कुछ और अधिक स्पष्ट कहता हूँ।

परवस्तु से न तो सुविधा है और न असुविधा। परवस्तु तो मात्र जानने लायक (ज्ञेय) पदार्थ हैं। जीव मात्र यह कल्पना कर लेता है कि परवस्तु की अवस्था मुझे सुविधाजनक है और कोई जीव यह भी कल्पना कर लेता है कि अमुक वस्तु मुझे असुविधाजनक है। परवस्तु का संयोग एक समान किसी जीव के लिये जीवन भर रह ही नहीं सकता। यदि किसी वस्तु का संयोग रहता भी है तो उस वस्तु की अवस्थाऐं तो बदलती ही रहती हैं। इसलिये परवस्तु की सुविधा-असुविधा की कल्पना करनेवाले जीव के कल्पनाओं के घोड़े बदले बिना नहीं रह सकते।

सुखचंद—तब तो सुख और दु:ख मन की कल्पना ही रही, सच्चा सुख तो मालूम ही नहीं होता।

ज्ञानचंद—यह बात नहीं है। सांसारिक सुख-दु:ख तो परवस्तु से होनेवाली सुविधा और असुविधा की कल्पना है और वह कल्पना केवल कपोल-कल्पित होने से हवाई किला ही सिद्ध होती है। यदि अधिक स्पष्ट कहा जाय तो यह शेखचल्ली की हवाई किले के समान है। सच्चे ज्ञान की दृढ़ता का फल शांतिरूप सच्चा सुख है और वह निश्चल है।

सुखचंद—आपने यह समझा दिया कि इसलोक और परलोक का भय कैसे दूर हो सकता है। अन्य भयों के संबंध में अब फिर कभी चर्चा करेंगे।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा!

(३)

सुखचंद—अन्य भय कैसे दूर हो सकते हैं?

ज्ञानचंद—रोग शरीर में होता है, शरीर रजकणों का बना हुआ है। रजकण अजीव जड़ पुद्गल हैं। मैं जीव हूँ और शरीर परवस्तु हैं, इसलिये पर होने से यदि वह बनता-बिगड़ता है तो उससे मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। जीव का शरीर तो ज्ञानशरीर है, वह सदा अचल है- सदा निराकुल है, इसलिये रोग की वेदना मुझे नहीं हो सकती। मैं तो ज्ञानस्वरूप का ही भोग करनेवाला हूँ। पुद्गल से उत्पन्न रोगरूप अवस्था वेदना है ही नहीं, इसलिये यथार्थ वस्तु तत्त्व

को समझनेवाले को वेदना का भय नहीं हो सकता। इस प्रकार यथार्थ समझ की दृढ़ता से वेदना का भय नष्ट हो जाता है। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

सुखचंद—अरक्षा का भय कैसे मिट सकता है?

ज्ञानचंद—मैं एक स्वतंत्र चैतन्य वस्तु हूँ, इसलिये मैं स्वयं निज से रक्षित हूँ, कोई पर मेरी रक्षा नहीं कर सकता। मैं कोई ऐसी वस्तु नहीं हूँ कि दूसरे मेरी रक्षा करें तो मैं रह सकता हूँ, नहीं तो मैं नष्ट हो जाऊँगा, इस ज्ञान की रटन से अरक्षा का भय दूर हो जाता है।

सुखचंद—पुण्य जीव की रक्षा करनेवाला रखवाल तो है न?

ज्ञानचंद—मैं पूछता हूँ कि पुण्य क्षणिक है या त्रिकाल में रहनेवाला?

सुखचंद—पुण्य तो क्षणिक उत्पन्न-ध्वंसी है।

ज्ञानचंद—तब तो आप ही सोचिये कि क्षणिक भाव त्रिकाली आत्मा का रक्षक कैसे हो सकता है?

सुखचंद—कुछ लोग कहते हैं कि यदि कोई इसे समझ लेगा तो पुण्य नहीं करेगा।

ज्ञानचंद—ऐसा तो वे ही कह सकते हैं जो यह जाने कि 'मनुष्य यदि सच को समझ लेगा तो वह विपरीत चलेगा।' सत्य को समझनेवाला मनुष्य पुण्य में नहीं लगकर शुद्धता में लगेगा, उससे वह अपने समस्त विकारों को दूर करके सर्व भयों से मुक्त हो जायेगा। यह तो हो नहीं सकता कि ज्यों-ज्यों विकार बढ़ेगा, त्यों-त्यों भय दूर होगा। अज्ञानी के पुण्य का भाव इस मान्यता पर निर्भर है कि पर से निज को अनुकूलता होती है। ज्ञानी जब शुद्ध में नहीं रह सकता, तब वह अशुभ को दूर करने के लिये शुभ में लग जाता है, किन्तु उससे वह धर्म नहीं मानता। इसलिये उसे अवांछक वृत्ति होने के कारण उच्च पुण्य की प्राप्ति होती है।

सुखचंद—दूसरे लोग वैसा उपदेश क्यों नहीं देते?

ज्ञानचंद—प्रत्येक जीव वैसा ही उपदेश देते हैं जो अपने को ठीक लगता है। जिज्ञासु को उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। प्रत्येक व्यापारी अपने माल को बहुत अच्छा कहता ही है। जीवों को पुण्य का अर्थात् भेदरूप व्यवहार का पक्ष अनादिकाल से ही है और उसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी करते हैं, किन्तु उसका फल संसार है।

सुखचंद—उसका फल संसार क्यों है?

ज्ञानचंद—पुण्य क्षणिक है, उत्पन्नध्वंसी है और वह विकारी है, इसलिये उसका फल संसार है। यदि प्रकारांतर से कहा जाय तो वह बढ़ता है और बिखर जाता है, इसलिये जो पुद्गल

भाव है, उसका फल भी पुद्गल वस्तु का संयोग है। विकार का फल सच्चा सुख नहीं हो सकता और न विकार से भय ही दूर हो सकता है।

सुखचंद—आपके कहने से तो यह मालूम होता है कि जो अपने आत्मा को जानता है, उसे अरक्षा भय नहीं रहता क्योंकि आत्मा को कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकता और वह स्वयं अपने आप ही रक्षक है।

ज्ञानचंद—हाँ यही बात है।

सुखचंद—तब तो इस प्रकार से वह पर से गोपित ही है, इसलिये उसे गुप्ति भय रखने का वास्तव में कोई कारण नहीं है, यह ठीक है न?

ज्ञानचंद—सम्यग्दृष्टि के ऐसी ही मान्यता होती है और इसीलिये उसके मरणभय या आकस्मिक भय नहीं होता। वह जानता है कि जीव मरता नहीं है और न उसके कभी अकस्मात ही होता है। यह दशा असंयत सम्यग्दृष्टि के होती है।

❖ ❖ ❖

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

रामजीभाई माणेकचंद दोशी, संकलियता

(१)

सम्यग्दर्शन संपूर्ण दु:ख का नाश करता है, इसलिये हे जीव! तू इसमें प्रमादी मत हो।

शंका—सम्यग्दर्शन से सर्व दु:खों का नाश कैसे होता है?

समाधान—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप का आधार है। इसलिये वह संपूर्ण दु:खों का नाश करता है; यों समझना चाहिये।

शंका—परिणाम परिणामी द्रव्य के आधार से रहता है; इसलिये अन्योन्य आधार नहीं हो सकता। फिर भी आप यह कैसे कहते हैं कि सम्यक्त्व परिणाम ज्ञानादि परिणाम का आधार है।

समाधान—जैसे परिणामशील द्रव्य के बिना (आत्मा के बिना) ज्ञानादिक नहीं रहते, उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप को सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्पना प्राप्त नहीं होता; इसलिये सम्यग्दर्शन को आधार माना है।

(२)

जिस प्रकार नगर में प्रवेश करने का उपाय द्वार है; उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य और

तप का आत्मा में प्रवेश होने के लिये सम्यग्दर्शन द्वार के समान है। अर्थात् जब आत्मा में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, तब उसमें ज्ञानादिक का प्रवेश होता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र आदि की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न होने से जीव को अवधि इत्यादिक विशिष्ट ज्ञान, यथाख्यातचारित्र तथा कर्म की अतिशय निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त नहीं होता।

जैसे आँखों से चेहरे में सुंदरता आती है; उसी प्रकार ज्ञानादिक में सम्यग्दर्शन से सम्यक्पना प्राप्त होता है।

जैसे वृक्ष में जड़ के कारण दृढ़ता आती है; उसी प्रकार ज्ञानादिक में स्थिरता अथवा दृढ़ता सम्यग्दर्शन से प्राप्त होती है।

(३)

जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, उसे ही भ्रष्ट समझना चाहिये। दर्शनभ्रष्ट जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। चारित्रभ्रष्ट जीव, मुक्ति प्राप्त कर सकता है किन्तु दर्शनभ्रष्ट जीव को मुक्ति लाभ नहीं होता।

जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, उसे भ्रष्टतम कहा गया है। चारित्रभ्रष्ट जीव को दर्शनभ्रष्ट नहीं माना जाता। अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीव से दर्शनभ्रष्ट जीव अतिशय भ्रष्ट है। जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं होते, उनके संसार पतन नहीं है।

शंका—असंयम से उत्पन्न पाप के भार से जीव को संसार में भ्रमण करना ही पड़ता है; फिर भी आप यह कैसे कहते हैं कि चारित्रभ्रष्ट जीव के संसार पतन नहीं होता।

समाधान—चारित्रभ्रष्ट जीव चारों गतियों में भ्रमण नहीं करता। उसके संसार अल्प रह गया है। इसलिये यह कहा गया है कि उसके संसार नहीं है। (जैसे किसी के पास थोड़ा धनरह गया हो तो वह धनिक नहीं कहलाता) परंतु दर्शनभ्रष्ट मनुष्य अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिये वह अत्यंत निकृष्ट है।

(४)

शंका, कांक्षा इत्यादि अतिचारों से रहित अविरत सम्यग्दृष्टि के भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होनेवाले परिणामों में हिंसादिक से विरक्तता उत्पन्न न होने पर मात्र निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले मनुष्य के तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है।

शंका—विनयसंपन्नता आदि अन्य कारणों से भी तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है तो फिर ऐसी क्या विशिष्टता है जो सम्यग्दर्शन में ही हो ?

समाधान—सम्यग्दर्शन होने पर ही विनयसंपन्नतादि तीर्थंकर कर्म बंध के कारण होती है, अन्यथा विनयसंपन्नतादि में कारणता नहीं होती। मात्र सम्यग्दर्शन की सहायता से ही श्रेणिक राजा भावी अरहंत हुए हैं।

शंका—श्रेणिक राजा भविष्य काल में अरहंत होनेवाले हैं, उन्हें अरहंत अवस्था प्राप्त नहीं हुई है, फिर भी यह कैसे कहते हैं कि वे अरहंत हो गये ?

समाधान—भविष्यकाल का अरहंत पद यद्यपि अभी निष्पन्न नहीं हुआ है, फिर भी वे निश्चय से होनेवाले हैं। इसलिये यह कहना उचित है कि वे हो गये हैं।

(५)

इस निर्मल सम्यग्दर्शन की भूमिका में राग के कारण इंद्र पदवी, चक्रवर्तित्व, अहमिन्द्रपद तथा तीर्थंकर पद ऐसी कल्याण परंपरा को लिये हुये उत्तरोत्तर पदवी मिलती है। यह सम्यक्त्व रत्न इतना मूल्यवान है कि देव और असुरों के साथ यदि संपूर्ण लोक की तुलना की जाय तो भी उसकी कीमत नहीं चुकाई जा सकती। अर्थात् संपूर्ण त्रिलोक के अर्पित कर देने पर भी सम्यक्त्व रत्न नहीं मिलता।

एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ हो और दूसरी ओर त्रिलोक का लाभ हो तो इन दो लाभों में से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। त्रिलोक का लाभ मिलने पर भी वह अल्प समय में नष्ट हो जाता है। किन्तु सम्यग्दर्शन का लाभ जीव को अविनाशी सुख देनेवाले मोक्ष की प्राप्ति कराता है।

इसलिये सम्यग्दर्शन का लाभ त्रिलोक के लाभ से श्रेष्ठ है। अत: उसे प्राप्त करने के लिये प्रत्येक जीव को प्रयत्न करना चाहिये।

—१—

संसार का मूल कारण मिथ्यात्व ही है अर्थात् मिथ्याश्रद्धा ही संसार का मूल है, इसलिये हे जीव! तू इस का त्याग कर। मिथ्यात्व, गुणों से युक्त बुद्धि को भी मुग्ध (मुर्च्छित) कर देता है।

शंका—आप मिथ्यात्व को सर्व दोषों में प्रधान कहते हैं, यह योग्य नहीं है। जैसे मिथ्यात्व अपने कारण से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार असंयम आदिक की उत्पत्ति भी अपने-अपने कारण से होती है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि मिथ्यात्व का दोष पहले और चारित्र का दोष बाद में मालूम होता है। क्योंकि आत्मा में हमेशा आठों कर्मों का सद्भाव रहता है।

समाधान—सामान्यतया सूत्रकार ने ''मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाय योगा:बंधहेतुतव:'' इस सूत्र में मिथ्यात्व को पहला स्थान दिया है। अर्थात् बंध के कारणों में मिथ्यात्व का प्रथम उल्लेख है। संसार, बंधपूर्वक है और संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन है!

—२—

यह मिथ्यात्व, बुद्धि को विपरीत कर देता है। सुनने की इच्छा, शास्त्र श्रवण करना, श्रवण करके उसे हृदय में धारण करना, कालांतर में भी धारण किये हुये को न भूलना इत्यादिक बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व उन्हें भी विपरीत बना देता है। अर्थात् बुद्धि और श्रवण-इच्छा इत्यादिक उसके कारण भी मिथ्यात्व के सहवास से विपरीत हो जाते हैं।

इसलिये हे जीव! तू मिथ्यात्व का त्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना में अपने को स्थिर कर।

—३—

शंका—जो वस्तु जिस स्वरूप को धारण नहीं करती, उसे ज्ञान अन्यरूप में कैसे जानता है?

समाधान—ज्ञान विपरीत भी होता है, क्योंकि ज्ञान को विपरीत होने के कारण मिलते हैं। दृष्टांत-सूर्य की प्रचंड किरणों से जब धरती अत्यंत गरम हो जाती है, तब उसकी उष्णता सूर्य की किरणों में मिश्रित होकर पानी जैसी दिखाई देती है। उस समय जिनकी आँखें प्यास से संतप्त हो रही हैं, उन हिरणों को सूर्य की किरणों में जल का आभास होने लगता है (इसे मृगमरीचिका कहते हैं) उसी प्रकार मिथ्यात्वदशा में इस जीव को असत्य पदार्थ भी सत्य मालूम होने लगते हैं। मिथ्यात्व-ग्रस्त जीव, अतत्त्व को तत्त्व समझता है।

—४—

मिथ्यात्व से उत्पन्न होनेवाले भ्रम की अपेक्षा धतूरे के सेवन से होनेवाली उन्मत्तता अच्छी है। क्योंकि मिथ्यात्व से होनेवाली उन्मत्तता अनेक कुयोनियों में जन्म-मरण की वृद्धि करती है, तब धतूरे के सेवन से उत्पन्न होनेवाला पागलपन जन्म-मरण की वृद्धि नहीं करता तथा थोड़े दिन तक ही स्थिर रह सकता है, इसलिये अनन्त काल तक विपरीत स्वरूप दिखानेवाला मिथ्यात्वजन्य मोह परिणाम अत्यन्त निकृष्ट है, यों समझना चाहिये।

जन्म-मरण के प्रवाह से डरनेवाले हे जीव! तू इस दुष्ट मिथ्यात्व का त्याग कर।

—५—

अनादिकाल से जीव के साथ मिथ्यात्व चला आया है, इसीलिये यह जीव सम्यक्त्व में

रमण नहीं करता। अनादिकाल से आज तक इस जीव को मिथ्यात्व का स्वाद लगा हुआ है। इसलिये यह जीव सम्यक्त्व में नहीं रमता। इसलिये आचार्य इस जीव को बारंबार सम्यक्त्व में प्रयत्न करने का उपदेश देते हैं कि अनंतकाल से मिथ्यात्व का अभ्यास होने से उसके त्याग करने में अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जिस प्रकार सर्प अपने चिर परिचित बिल में जाता हुआ रोकने पर भी प्रवेश करता है, उसी प्रकार इस जीव को मिथ्यात्व का त्याग करने और सम्यक्त्व में दृढ़ता प्राप्त कराने के लिये बारंबार मिथ्यात्व त्याग का उपदेश देना अयोग्य नहीं है।

—६—

अग्नि, विष और काले सर्प इत्यादि से भी जीव की उतनी हानि नहीं होती कि जितनी महा हानि मिथ्यात्व से होती है अर्थात् तत्त्व में अश्रद्धा करने से जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

अग्नि, विष और काले सर्प इत्यादि से जीव की हानि एक ही भव में हो सकती है किन्तु मिथ्यात्व से अनेक कोड़ाकोड़ी भवों तक में हानि होती है।

—७—

विषाक्त बाण के शरीर में प्रवेश होने से उसका विष सारे शरीर में फैल जाता है और मनुष्य प्राण रहित हो जाता है अर्थात् उस पुरुष का कोई उपचार नहीं हो सकता; उसी प्रकार मिथ्यात्व शल्य से विंधा हुआ मनुष्य तीव्र वेदना का अनुभव करता है।

—८—

यह आशा करना व्यर्थ है कि मिथ्यात्व युक्त होने पर भी मैंने दुर्द्धर चारित्र का पालन किया है, इसलिये वह दीर्घ संसार से मेरी रक्षा कर लेगा।

इसका दृष्टांत यह है कि बहुत सुंदर किन्तु कड़वी तूंबडी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है अर्थात् दूध का माधुर्य नष्ट हो जाता है किन्तु शोभा रहित शुद्ध तूंबड़ी में रखा हुआ दूध कडुवा नहीं होता, वह मधुर और सुवासित बना रहता है।

—९—

उसी प्रकार मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत रुचि से विपरीत बने हुये जीव के तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य इत्यादि गुण नष्ट हो जाते हैं। मिथ्यात्व रहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्ति का उपाय है किन्तु अकेला तपादिक मुक्ति का उपाय नहीं है। जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, तब तपादिक में सम्यक्पना आता है और उसके अभाव में तपादिक में सम्यक्पना नहीं आ

सकता। जिसने मिथ्यात्व का त्याग किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव में तपादिक सद्गुण सफल होते हैं। ऐसे तपश्चरण से ऐह लौकिक सुख और इंद्रादि पद की प्राप्ति होती है और मोक्ष सुख का भी लाभ होता है। पूर्ण शुद्धि होने से पहले यदि आयु पूर्ण हो जाय तो देव होकर मनुष्य में दशांगी सुख में जन्म लेकर साधुपद स्वीकार करके मोक्षपद पाता है और यदि उसी भव में पूर्ण शुद्धि कर ले तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

—१०—

शास्त्र का सामान्य कथन है कि भव्य और अभव्य जीव अनन्त बार नवमें ग्रैवेयक तक हो आया है, तब प्रश्न यह होता है कि जीव ऐसा क्या करे कि जिससे वह नवमें ग्रैवेयक तक जा सके। इसका उत्तर नीचे दिया जाता है—

सम्यग्दर्शन के बिना शील और तप से परिपूर्ण तीन गुप्तियों और पाँच समितियों के प्रति सावधानी से युक्त अहिंसादि पंच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र का पालन कर तो उसका फल नवमी ग्रैवेयक है। वह मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट शुभभाव है। इसलिये जीव ने जो काम अनंत बार किया और यदि वह पुनः वही काम करता है तो उसे उसका वही फल मिलता है। अर्थात् उसके संसार बना रहता है। इसलिये जीव को विचार करना चाहिये कि उसने अनंत काल में क्या नहीं किया।

तटस्थ विचारक को मालूम होगा कि जीव शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं समझ पाया अर्थात् उसने सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया; इसीलिये वह संसार में भटकता रहा। अर्थात् इसी कारण से उसका दुःख बना रहा। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करना अपूर्व है (इससे पूर्व कभी प्राप्त नहीं किया था), यह निश्चय करके उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिये कि पुण्य को छोड़कर पाप करने को कहा जा रहा है। जब तक शुद्धता प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक पाप को छोड़कर पुण्य में रहना चाहिये किन्तु उसे धर्म अथवा धर्म का कारण नहीं मान लेना चाहिये।

यह बात लक्ष्य में रखना आवश्यक है कि ज्ञान का प्रगट होना सम्यग्दर्शन नहीं है। जीव को ज्ञान का प्रागट्य अनंत बार, ऐसा हुआ है कि इसने ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त किया, किन्तु शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण आत्मा ने अपने यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा नहीं की। ज्ञान का प्रगट होना और स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा का होना, यह दोनों बिल्कुल भिन्न गुण हैं।

❖ ❖ ❖

: : उद्‌बोधन : :

परम पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कानजी स्वामी

जैनधर्म

जैनधर्म कोई वेष अथवा गोल (वाड़ा) नहीं है, किन्तु वीतराग का शासन है। वीतरागता ही जैनधर्म है।

वीतराग के मार्ग में राग को कोई स्थान नहीं है। भले ही वह साक्षात् भगवान पर ही क्यों न हो; किन्तु वह राग भी जैनशासन नहीं है।

आत्मभान कर ले

हे आत्मा! अब बस कर! नरक के जिन अनंत दु:खों को सुनते की हृदय कांप उठता है, उन दु:खों को तूने अनंतानंत काल से सहन किया है परंतु तूने अनंत काल में एक क्षण के लिये अपना सच्चा भान नहीं किया। अब इस उत्तम मनुष्य जीवन में अनंत काल के अनंत दु:खों को दूर करने का समय आया है। यदि अब तू अपने स्वरूप को जानने का सच्चा उपाय नहीं करेगा तो फिर अनंत काल तक चौरासी में भ्रमण करना पड़ेगा। इसलिये जागृत होओ।

आत्मा को पहिचानो

आत्मा को पहचाने बिना नहीं चल सकता। वस्तु का भान किये बिना तू जायगा कहाँ? तेरी सुख-शांति तेरी ही वस्तु में से आती है या बाहर से? तू भले ही चाहे जिस क्षेत्र में चला जाय किन्तु तू तो अपने में ही रहेगा। तेरा सुख स्वर्ग में से आनेवाला नहीं है। तू अपने से किसी भी काल में या किसी भी क्षेत्र में अलग नहीं होगा। मात्र तू आत्मभान के बिना ही दु:खी हो रहा है। उन दु:खों को दूर करने के लिये त्रिकाल ज्ञाता ज्ञानी एक ही उपाय बतलाते हैं कि-आत्मा को पहिचानो।

अविरति सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है

अविरति सम्यग्दृष्टि के भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होता। मिथ्यात्वसहित जो रागादिक होता है, वही अज्ञान के पक्ष में माना जाता है। सम्यक्त्वसहित रागादिक, अज्ञान के पक्ष में नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के निरंतर ज्ञानमय ही परिणमन होता है, उसके चारित्र की कमजोरी से जो रागादिक होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है। वह रागादिक को रोग समान समझकर प्रवृत्ति करता है और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें नष्ट करता जाता है। इसलिये ज्ञानी के जो रागादिक होते हैं, वे विद्यमान होने पर भी अविद्यमान के समान हैं। वे आगामी सामान्य संसार का बंध नहीं करते, मात्र अल्पस्थिति-अनुभागवाला बंध करते हैं, ऐसे अल्पबंध को गौण करके उसे बंध नहीं माना जाता।

बुद्धि का सदुपयोग

जैसे कमल रहित सरोवर सुंदर नहीं लगता; उसी प्रकार आप्त वचन न सुनने की बुद्धि शोभा हीन है, यों समझना चाहिये।

यहाँ 'सुनना' शब्द कुछ भी सुनने के सामान्य अर्थ का वाचक नहीं है किन्तु 'सुनना' शब्द का अर्थ आप्त वचनों को सुनना ही है।

श्रद्धा रहित सुनना सुलभ है, किन्तु जैसा जिनेश्वर ने कहा है, वैसे ही श्रद्धा-गुण से युक्त श्रवण करना जगत में दुर्लभ है।

रत्नत्रय की योग्यता धारण करनेवाला मनुष्य जन्म मिलने पर भी यदि हिताहित की परीक्षा करने में बुद्धि का उपयोग नहीं किया तो वह निष्फल है। रत्नत्रय परिणाम की योग्यता कर्मभूमि के मनुष्यों में है। (भरतक्षेत्र एक कर्मभूमि है)।

मुद्रक—चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़; ता. ३-१-४६
प्रकाशक—जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, सुवर्णपुरी-सोनगढ़-काठियावाड़